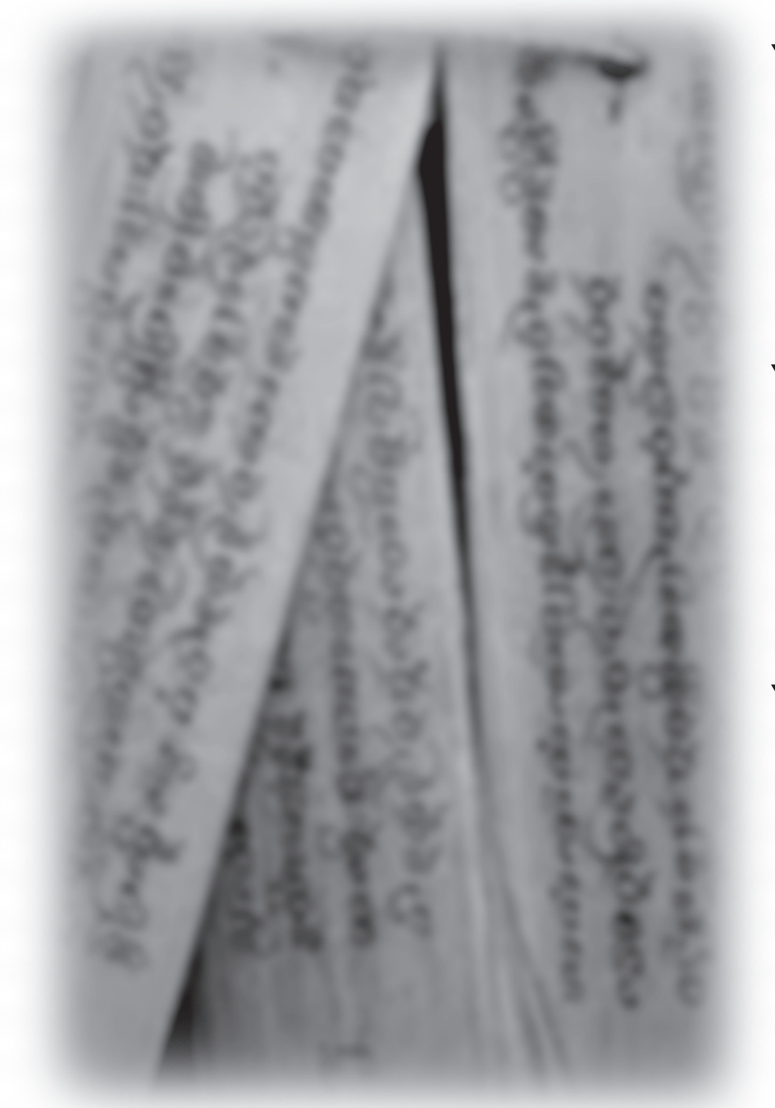
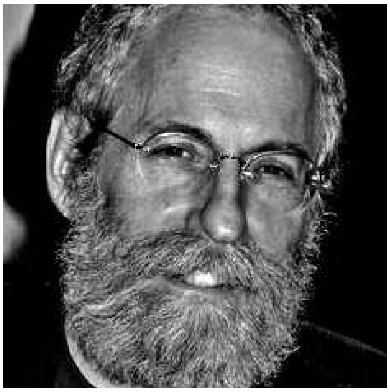


क्या अनुवाद की कोई भारतीय पद्धति भी थी ?

राज कुमार

भारत में अनुवाद का इतिहास लिखने वाले और अनुवाद-प्रक्रिया का सिद्धांत-निरूपण करने वाले यह मान कर चलते हैं कि लोकभाषीकरण की प्रक्रिया बड़े पैमाने पर अनुवाद का सहारा लिए बिना सम्पन्न नहीं हो सकती थी। शेल्डन पोलॉक ने अपने लेख 'इण्डिया इन वर्नाक्युलर मिलेनियम' में लिखा है कि युरोप की तरह भारत में भी दूसरी सहस्राब्दी लोकभाषीकरण की सहस्राब्दी थी। साथ ही उन्होंने स्वीकार किया है कि भारत में लोकभाषीकरण की प्रक्रिया को जन्म देने वाले कारण ठीक-ठीक चिह्नित कर पाना सम्भव नहीं है। सामान्य रूप से आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय अर्थात् लोकभाषीकरण को भक्ति-आंदोलन के साथ जोड़कर देखने की प्रवृत्ति रही है। सुदीप्त कविराज ने अपने लेख 'इमैजिनरी इंस्ट्टीट्यूशंस ऑफ़ इण्डिया' में यही सिद्ध करने की कोशिश की है, 'ऐसा प्रतीत होता है कि लोकभाषाओं के अभ्युदय का शास्त्रीय ब्राह्मणिक हिंदू-



शेल्डन पोलॉक ने सही लिखा है कि लोकभाषीकरण के दौरान अलग-अलग क्षेत्रों में ऐसे ग्रंथ तैयार किये गये, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में मानक ग्रंथ जैसा महत्त्व अर्जित कर लिया। ये ग्रंथ किसी पुराने ग्रंथ का अनुवाद नहीं थे।

परम्परा के विरुद्ध आंतरिक अवधारणात्मक विद्रोह से गहरा संबंध है।' लेकिन पोलॉक ने दिखाया है कि आधुनिक भारतीय लोकभाषाओं का उदय भक्तिकाल से पहले ही हो चुका था। यही नहीं, इन भाषाओं में साहित्य भी लिखा जाने लगा था। भक्ति-आंदोलन के साथ यह प्रक्रिया और भी मजबूत हुई, लेकिन लोकभाषाओं के अभ्युदय की वजह के रूप में 'भक्ति-आंदोलन' का उल्लेख बहुत सटीक नहीं लगता। जो भी हो, इतना तो तय है कि हिंदी-प्रदेश की भाषाओं/बोलियों के साहित्य को जैसी प्रतिष्ठा भक्ति-आंदोलन के दौरान मिली, वैसी प्रतिष्ठा उसे पहले प्राप्त नहीं थी। अब सवाल यह उठता है कि क्या भक्ति-आंदोलन के दौरान, जिसे हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा ने 'लोक-जागरण' कहा था, प्राचीन कृतियों का संस्कृत, प्राकृत, पालि से इन लोकभाषाओं में अनुवाद किया गया?

विद्वानों ने दिखाया है कि युरोप में आधुनिक युरोपीय भाषाओं के विकास में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अब चूँकि युरोप में ऐसा हुआ है तो आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास भी अनुवाद का सहारा लिए बिना कैसे हो सकता है? इसीलिए युरोप में जो कुछ हुआ, उसे भारत में यथावत् लागू करते हुए विद्वानों ने अपनी-अपनी भाषा में संस्कृत से अनूदित ग्रंथों की लम्बी-चौड़ी सूची तैयार कर डाली। उन्होंने यह समझने की ज़हमत नहीं उठाई कि जिन ग्रंथों को अनुवाद बताया जा रहा था, वे वास्तव में अनुवाद थे ही नहीं। वे तो एक नयी रचना थे। भारत में पुरानी कृतियों से प्रेरणा लेकर नयी कृतियाँ रचने की लम्बी परम्परा रही है। पुरानी कृति को उपजीव्य काव्य कहा जाता था। *रामायण* और *महाभारत* बुनियादी उपजीव्य काव्य माने गये हैं। लोकभाषीकरण के दौरान भी पुराने ग्रंथों से प्रेरणा लेते हुए आधुनिक भारतीय भाषाओं में नये ग्रंथ लिखे गये। कहने का आशय यह है कि भाषा बदल जाने पर भी उपजीव्य ग्रंथों के आधार पर नये ग्रंथ रचने का सिलसिला चलता रहा। इसीलिए भारत में एक नहीं, अनेक *रामायण* हैं, एक नहीं अनेक *महाभारत* हैं और ये *रामायण* और *महाभारत* सिर्फ़ लिखित परम्परा में नहीं हैं, लोक-परम्परा में भी हैं। लेकिन पश्चिमी परम्परा में अनेक *इलियड-ओडिसी* नहीं हैं। इसलिए तुलसीदास के *रामचरितमानस* को वाल्मीकि की *रामायण* का अनुवाद सिद्ध करना हास्यास्पद ही नहीं, बचकाना भी है।

दीपेश चक्रवर्ती ने युरोप के इतिहास के वज़न पर समूची दुनिया के इतिहास का अध्ययन करने की प्रवृत्ति के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है, 'युरोप भारतीय, चीनी, कीनियाई इत्यादि सभी इतिहासों का सम्प्रभु और सैद्धांतिककर्ता बना हुआ है। एक अजीब तरीक़े से दुनिया के दूसरे देशों का इतिहास युरोपीय इतिहास के मास्टर नैरेटिव का परिवर्द्धित रूप बन जाता है।' जो बातें दीपेश चक्रवर्ती ने इतिहास को लेकर कही हैं, वे बातें भारत में अनुवाद सिद्धांत और व्यवहार के बारे में किये गये चिंतन पर भी सटीक बैठती हैं। युरोपीय अवधारणाओं को भारत में यथावत लागू करने की हास्यास्पद कोशिश का ही परिणाम है कि आरम्भिक आधुनिक दौर में लोक-भाषाओं में बनाए गये अनेक ग्रंथों

को संस्कृत-पालि के ग्रंथों का अनुवाद बताया जाता रहा है।

शेल्डन पोलॉक ने सही लिखा है कि लोकभाषीकरण के दौरान अलग-अलग क्षेत्रों में ऐसे ग्रंथ तैयार किये गये, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में मानक ग्रंथ जैसा महत्त्व अर्जित कर लिया। ये ग्रंथ किसी पुराने ग्रंथ का अनुवाद नहीं थे। इन ग्रंथों के साथ नये तीर्थस्थल भी बने। यही नहीं, कुछ पुराने देवताओं का मान घटा, तो कुछ का बढ़ गया और कुछ नये साधु-संत-फ़क़ीरों ने देवत्व अर्जित कर लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सांस्कृतिक-धार्मिक रूपान्तरण में नयी कृतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस समूची प्रक्रिया की व्याख्या अनुवाद की अवधारणा के आधार पर सम्भव ही नहीं। अनुवाद के बजाय आत्मसातीकरण या अंतर-पाठ्य की अवधारणाएँ ज़रूर इस प्रक्रिया को समझने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

भारत में ग्रंथ की अवधारणा पश्चिम से भिन्न रही है। पश्चिम में मूलग्रंथ की मान्यता के कारण अनुवाद की अवधारणा का विकास हुआ। दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथों को छोड़ दें तो भारत में मूलग्रंथ की अवधारणा का अस्तित्व नहीं था, इसलिए ग्रंथ की अवधारणा और अनुवाद की परिकल्पना भी भारत में पश्चिम से भिन्न रही है। जैसा कि ए.के. रामानुजन ने लिखा है, (भारत में) 'कोई भी रचना मौलिक नहीं होती। कोई भी कहानी पहले कही गयी कहानी का सिर्फ़ पुन:कथन नहीं। कोई भी कहानी स्वयं में पूर्ण नहीं, भले ही वह किसी ग्रंथ में पूर्ण प्रतीत होती हो।' रामानुजन के अनुसार 'परवर्ती ग्रंथ किसी मूलग्रंथ का अनुवाद नहीं, बल्कि एक विशिष्ट रचना है। वे एक तरह से नये ग्रंथ हैं, जिनका रूप ही विशिष्ट नहीं है, बल्कि उनकी अंतर्वस्तु भी ताज़ा है।' परवर्ती रचनाओं की अवस्थिति के बारे में विचार करते हुए रामानुजन ने आगे स्पष्ट किया है कि 'हम *कम्बण रामायण* को *कम्बण रामायण* के रूप में पढ़ते हैं, उसी आधार पर उसका मूल्यांकन करते हैं। इस आधार पर नहीं कि वह *वाल्मीकि रामायण* से कितनी मिलती-जुलती है। इसके बावजूद यदि हमारा ध्यान किसी बात पर जाता है तो ये कि वह *वाल्मीकि रामायण* से कितनी भिन्न है।'

वस्तुत: भारतीय परम्परा में इन रचनाओं के बीच का अंतर्संबंध बरगद के पेड़ के तने और शाखों की तरह है। उल्लेखनीय है कि बरगद के पेड़ की शाखें कालांतर में तने में तब्दील हो जाती हैं, और फिर यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि उनमें से मूल तना कौन सा है। सम्भवत: इसीलिए बर्नाड कोह्न ने 'बरगद के पेड़ से लटकने वाले बरोह और जड़ों की नियंत्रित अराजकता को भारतीय रचना-परम्परा के सादृश्य की तरह उद्धृत किया है। यदि ये बातें ठीक हैं तो फिर भारतीय संदर्भ में हमें रचना-परम्परा में रचना की विशिष्ट अवधारणा पर ज़ोर देना पड़ेगा, क्योंकि यहाँ रचनाएँ केंद्र से परिधि की ओर और परिधि से केंद्र की ओर निरंतर संक्रमण करती रहती हैं। इसलिए युरोपीय अनुवाद सैद्धांतिकी और व्यवहार के सार्वभौम महत्त्व पर भी सवाल खड़े करने पड़ेंगे। वास्तव में, भारत की सांस्कृतिक प्रक्रिया ऐसे विशिष्ट आयाम उद्घाटित करती है, जिसे पश्चिमी सैद्धांतिकी में अंतर्भूत नहीं किया जा सकता। बिल्कुल वैसे ही जैसे भारत के सामाजिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया एक सीमा के बाद पश्चिमी सैद्धांतिकी से व्याख्यायित नहीं की जा सकती। शेल्डन पोलॉक ने भारतीय रचना-प्रक्रिया के वैशिष्ट्य के एक अन्य उल्लेखनीय आयाम पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'लेखन परम्परा के विकास से बहुत कुछ अप्रभावित रहते हुए भी वाचिक परम्परा यहाँ फलती-फूलती रहती है। यही कारण है कि कई शताब्दियों के दौरान *महाभारत* जैसी कृति से अनेक प्रकार के प्रदर्शनकारी रूप अस्तित्व में आ जाते हैं। ...अलग-अलग क्षेत्र महाभारत के अपने अलग रूप निर्मित करते हैं, जिनमें उनके क्षेत्र के इतिहास का प्रभाव दिखाई पड़ता है, और यहाँ कोई एक रूप अपनी केंद्रीयता पर ज़ोर नहीं देता। यहाँ विधाओं का स्वरूप आसानी से बदला जा सकता था और उन्हें विस्तार दिया जा सकता था।' इससे यह बात समझ में आती है कि भारतीय परम्परा में रचनाएँ सिर्फ़ पढ़े जाने के लिए नहीं थीं, उनका पारायण और प्रदर्शन भी होता था। उसे नाना रूपों में परिवर्तित और



दीपेश चक्रवर्ती ने युरोप के इतिहास के वज़न पर समूची दुनिया के इतिहास का अध्ययन करने की प्रवृत्ति के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है, 'युरोप भारतीय, चीनी, कीनियाई इत्यादि सभी इतिहासों का सम्प्रभु और सैद्धांतिककर्ता बना हुआ है। एक अजीब तरीक़े से दुनिया के दूसरे देशों का इतिहास युरोपीय इतिहास के मास्टर नैरेटिव का परिवर्द्धित रूप बन जाता है।'

रूपांतरित किया जा सकता था। रचना का पारायण या प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति अपनी विधागत ज़रूरतों और प्रदर्शन-स्थल की अपेक्षाओं के अनुसार उसे बदल सकता था। वह किसी प्रसंग को छोड़ सकता था तो किसी प्रसंग को विस्तार दे सकता था। सूत्र रूप में कहें तो रचना की तरल, गतिशील, परिवर्तनशील और लचीली अवधारणा के कारण प्राक्-औपनिवेशिक भारत में पश्चिमी ढंग के अनुवाद की सार्थकता ही संदिग्ध हो जाती है। अवतार की अवधारणा की तरह ही एक रचना के यहाँ नाना अवतार हैं। ये सभी अवतार एक जैसे नहीं हैं। रचना का नया अवतार (नया रूप) पुराने अवतार की पुनर्प्रस्तुति मात्र नहीं है। उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं; और ये विशेषताएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि उसका जन्म किस युग में हुआ है।

भारतीय विद्धानों ने शायद ही कभी पश्चिमी अर्थों में अनुवाद का सहारा लिया हो। इसके बजाय उन्होंने अपने युग की ज़रूरतों और चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए गुणात्मक रूप से भिन्न और नयी रचना तैयार की। यह सही है कि वे रचना की पूर्व-परम्परा से परिचित थे। यहाँ तक कि ईसा की दूसरी सहस्राब्दी के दौरान भी यह परिचय बरक़रार रहा। भारत में ईसा की दूसरी सहस्राब्दी, जिसे लोकभाषाओं के अभ्युदय और विकास की सहस्राब्दी कहा जाता है, के दौरान भी संस्कृत जैसी क्लासिकल भाषाओं से परिचय और उससे सीखने की प्रक्रिया पूरी तरह टूटी नहीं। निचली जाति से आने वाले निर्गुण परम्परा के कवियों को आधुनिक अर्थों में भले ही शिक्षित न कहा जाय, लेकिन जीवंत वाचिक परम्परा का हिस्सा होने के कारण, कथित रूप से अनपढ़ होने के बावजूद, वे ज्ञानी कहलाते थे। अनेक सगुण और रीतिकालीन कवि तो संस्कृत जानते थे और कुछ कवियों को फ़ारसी का भी ठीक-ठाक ज्ञान था। यह तथ्य साबित करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं। फ़ारसी के राजभाषा बन जाने के बावजूद संस्कृत सीखने का आकर्षण क़ायम रहा और उस दौर के ज़्यादातर कवि-विद्वान संस्कृत की रचनाओं को मूल में पढ़ सकते थे। इसलिए संस्कृत की इन रचनाओं को लोकभाषाओं में यथावत् अनूदित करने की कोई सार्थकता उन्हें समझ में नहीं आती थी। संस्कृत सीखने की प्रक्रिया को सबसे बड़ा धक्का लोकभाषीकरण के दौरान नहीं, बल्कि औपनिवेशिक दौर में अंग्रेज़ीकरण के कारण लगा। इसलिए इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि संस्कृत ग्रंथों का बड़े पैमाने पर अनुवाद लोकभाषा के अभ्युदय के दौरान नहीं, बल्कि उपनिवेशवाद के दौरान किया गया।

सुदीप्त कविराज ने अपने लेख में इस बात पर ज़ोर दिया है कि पूर्व औपनिवेशिक भारतीय समाज बहुभाषी समाज था और यहाँ भाषाओं की साफ़-साफ़ सीमा-रेखाएँ नहीं खींची गयी थीं। सच्चाई यह है कि यहाँ भाषाएँ परस्पर सम्बद्ध थीं। उनका संबंध एक्सपेक्ट्रम की तरह था। यहाँ एक 'भाषा' कहीं ख़त्म नहीं होती थी, बल्कि धीरे-धीरे वह दूसरी भाषा में रूपांतरित हो जाती थी। कबीर

के शब्दों में कहें तो भाषा का स्वरूप बहते नीर की तरह था। यहाँ भाषा को अस्मिता के बुनियादी निर्धारक तत्त्व के रूप में उस तरह से रेखांकित नहीं किया गया, जैसे पश्चिम में जहाँ कालांतर में भाषा के आधार पर ही राष्ट्रीय अस्मिता का निर्धारण हुआ। इस समूचे विचार-विमर्श में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि लोकभाषीकरण के दौर में भी भारतीय विद्वानों की बहुभाषिक क्षमताएँ बरक़रार रहीं। उन्होंने सचेत रूप से और स्वेच्छा से यह तय किया कि उन्हें किस लोकभाषा/लोकभाषाओं में लिखना है। किसी एक लोकभाषा में लिखने की मजबूरी या दबाव उनके सामने नहीं था। कई विद्वानों/कवियों ने इसीलिए एक से अधिक 'भाषाओं' में लिखा। उपनिवेशवाद से पहले आधुनिक भारतीय भाषाएँ परस्पर इस तरह जुड़ी हुई थीं कि आधुनिक अर्थों में उन्हें स्वतंत्र और निरपेक्ष भाषाएँ कहना मुश्किल है। उन्हें सीखना-समझना और उनमें रचना करने की सामर्थ्य अर्जित कर लेना किसी भारतीय विद्वान या कवि के लिए मुश्किल नहीं था। कथित रूप से किसी अन्य भारतीय भाषा की रचना को वे मूल में सुन-समझ सकते थे। उसे समझने के लिए उन्हें उसका अनुवाद पढ़ने की मजबूरी नहीं थी।

इसके विपरीत पश्चिम में इस दौरान आधुनिक पश्चिमी भाषाओं और उनके आधार पर निर्मित राष्ट्रों की सीमाएँ पक्की हो चली थीं। दूसरी भाषा की रचनाओं को अनुवाद का सहारा लिए बिना समझ पाना मुश्किल था। इसका मतलब यह है कि आधुनिक अर्थों में अनुवाद का चलन भक्तिकाल और रीतिकाल के दौरान भी नहीं दिखाई पड़ता। निर्गुण कवियों ने तो आख्यानपरक प्रबंधकाव्य लिखे नहीं, सूफ़ी कवियों ने ज़रूर आख्यानपरक प्रबंधकाव्य लिखे। लेकिन इन प्रबंधकाव्यों को लोककथाओं या पहले से उपलब्ध किसी रचना के अनुवाद के रूप में नहीं देखा जा सकता। तुलसीदास ने *रामचरितमानस* और उनसे पहले विष्णुदास ने पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में *पाण्डवचरित* और *रामायण-कथा* तथा केशवदास ने *रामचंद्रिका* ज़रूर लिखी। इनमें पहले से चले आ रहे आख्यान का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन इनमें से किसी को भी अनुवाद कहना ठीक नहीं होगा। पहले से उपलब्ध आख्यान-परम्परा का इस्तेमाल करने के बावजूद ये स्वतंत्र रचनाएँ हैं। इन रचनाओं की इण्टर-टेक्सच्युएलिटी की चर्चा तो की जानी चाहिए, लेकिन उन्हें अनुवाद कहना उचित नहीं होगा। तुलसीदास ने *रामचरितमानस* में लिखा है कि उनकी कथा 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' है। *रामचरितमानस* पर काम करने वाले विद्वानों ने लक्ष्य किया है कि इस काव्य की अनेक पक्तियाँ पुरानी कृतियों की पंक्तियों का अनुवाद हैं। तुलसीदास पुराने ग्रंथों और साहित्यिक कृतियों से कुछ पंक्तियों को चुन कर अनुवाद करते हैं और फिर उन्हें इस तरह जोड़ देते हैं कि एक नयी रचना अस्तित्व में आ जाती है। यह किसी पूर्ववर्ती कृति का शब्दिक अनुवाद नहीं है। यदि किसी को अनुवाद शब्द के प्रयोग का ज़्यादा ही शौक़ हो तो वह इन्हें पैराडिग्मेटिक अनुवाद कह सकता है। लेकिन सच्चाई यह है आधुनिक अर्थों में अनुवाद की शुरुआत भारत में उपनिवेशवाद के बाद होती है। प्रसिद्ध कवि एवं विचारक के. सच्चिदानंदन ने *द हिंदू* में प्रकाशित एक लेख में लिखा है कि भारतीय भाषाओं में ट्रांसलेशन के वज़न पर गढ़े गये शब्द जैसे अनुवाद, भाषांतर, रूपांतर, तर्जुमा इत्यादि का अस्तित्व



सुदीप्त कविराज ने यही सिद्ध करने की कोशिश की है, 'ऐसा प्रतीत होता है कि लोकभाषाओं के अभ्युदय का शास्त्रीय ब्राह्मणिक हिंदू-परम्परा के विरुद्ध आंतरिक अवधारणात्मक विद्रोह से गहरा संबंध है।'



सुब्रह्मण्यम के अनुसार इनके साथ ही एक ख़ास तरह की आधुनिकता का आगमन भी होता है। इस आधुनिकता में वैयक्तिकता का गहरा बोध, मानव शरीर एवं उसकी सम्भावनाओं के प्रति एक नयी दृष्टि शामिल थी। इस नये प्रकार की आधुनिकता में धार्मिक एवं सामूहिक अस्मिताओं को तोड़ने वाली और राजनय का एक नया सौंदर्य-बोध रचने वाली समान राजनीतिक संस्कृति का बोध भी शामिल था।

उन्नीसवीं शताब्दी से पहले नहीं दिखाई पड़ता। उन्नीसवीं सदी से पहले ट्रांसलेशन के अर्थ में इस शब्द के प्रयोग का कोई इतिहास नहीं मिलता; अनुवाद के बजाय संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में वार्तिक, भाष्य, वृत्ति, व्याख्या, टीका का उल्लेख मिलता है। लेकिन इनमें से किसी को भी अनुवाद के समतुल्य नहीं माना जा सकता।

यह सही है कि सोलहवीं-सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गये, जो किसी एक पूर्ववर्ती ग्रंथ पर आधारित हैं, लेकिन इसके बावजूद ये किसी पूर्ववर्ती ग्रंथ का शाब्दिक अनुवाद नहीं हैं। इसके बजाय ये देशभाषा ग्रंथ संस्कृत काव्यशास्त्र और उससे जुड़े हुए अन्य आनुषंगिक विषयों से संबंधित ग्रंथों की बुनियाद पर रचे गये।

युरोप के पुनर्जागरण का संबंध आधुनिक युरोपीय भाषा के अभ्युदय से है। इन भाषाओं का अस्तित्व ही लैटिन, ग्रीक और अरबी भाषा के ग्रंथों के बड़े पैमाने पर अनुवाद से सम्भव हुआ। भारत में संस्कृत ग्रंथों की अंतर्वस्तु को क्षेत्रीय भाषा में लाने का प्रयास तो किया गया, लेकिन किसी ग़ैर-भारतीय भाषा के ग्रंथ को किसी भारतीय भाषा में लाने का यत्न किया हो, ऐसे प्रमाण प्राय: नहीं मिलते। यह कहना मुश्किल है कि ग़ैर-भारतीय भाषाओं से उनका परिचय कितना था। लेकिन सत्रहवीं सदी तक विद्वानों की एक ऐसी जमात तैयार हो गयी थी, जो फ़ारसी से भली-भाँति परिचित थी और इसी के साथ एक ऐसी परम्परा का विकास होता है जिसे इण्डो-पर्शियन परम्परा कहा जाता है।

उल्लेखनीय है कि फ़ारसी-अरबी में अनुवाद का चलन पहले से मौजूद था। भारत में इण्डो-पर्शियन संस्कृति के अस्तित्व में आने के कारण ही सम्भवत: सत्रहवीं शताब्दी से बहुत ढीले-ढाले अर्थों में 'अनुवाद' की शुरुआत दिखाई पड़ने लगती है। इस दौरान इण्डो-पर्शियन विद्वानों के साथ-साथ विद्वानों का एक ऐसा समूह भी अस्तित्व में आया, जिन्हें इन भाषाओं के अतिरिक्त युरोप की भाषाओं का भी ज्ञान था। ग़ौरतलब है कि सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियाँ इस प्रकार के बहुभाषी व्यक्तियों के बिना सम्भव न थीं। बनार्ड कोह्न के अनुसार ऐसे लोगों को अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग नाम से जाना जाता था, लेकिन इनका लोकप्रिय नाम दुभाषिया था। इन दुभाषियों को विदेशी भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था। इनकी ज़रूरत विदेशियों को भारतीयों के साथ विभिन्न प्रकार के संवाद के लिए पड़ती थी। दक्षिण भारत में ऐसे ही एक समूह का उदय हुआ, जिसे वी. नारायण राव, डेविड शुलमन और संजय सुब्रह्मण्यम ने 'कर्णम' कहा है। कर्णम को कई भाषाओं का ज्ञान था। ये कई लिपियाँ पढ़

सकते थे और ये संस्कृत और फ़ारसी जैसी अंतर-क्षेत्रीय भाषाएँ भी अच्छी तरह जानते थे। ज़्यादातर दुभाषिये ग़ैर-ब्राह्मण जातियों से आते थे और उनके अभ्युदय के पीछे जाति विरोधी 'भक्ति आंदोलन' और मुग़ल प्रशासन की भूमिका रही होगी। इन दुभाषिये विद्वानों का दृष्टिकोण सम्भवत: पहले के ब्राह्मण-बहुल विद्वानों की तुलना में काफ़ी भिन्न रहा होगा।

राव, शुलमन और सुब्रह्मण्यम के अनुसार इनके साथ ही एक ख़ास तरह की आधुनिकता का आगमन भी होता है। इस आधुनिकता में वैयक्तिकता का गहरा बोध, मानव शरीर एवं उसकी सम्भावनाओं के प्रति एक नयी दृष्टि शामिल थी। इस नये प्रकार की आधुनिकता में धार्मिक एवं सामूहिक अस्मिताओं को तोड़ने वाली और राजनय का एक नया सौंदर्य-बोध रचने वाली समान राजनीतिक संस्कृति का बोध भी शामिल था। इसलिए ये सिर्फ़ संयोग नहीं है कि इसी दौर में उस प्रवृत्ति का अभ्युदय होता है, जिसे अनुवाद नहीं तो ट्रांसक्रिएशन अवश्य कहा जा सकता है। लेकिन इस दौर में भी विदेशी भाषाओं के ग्रंथों को भारतीय भाषाओं में लाने का कोई व्यवस्थित उद्यम नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ यह बात तत्काल जोड़नी ज़रूरी है कि भारत में विदेशी ग्रंथों के अनुवाद की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि भारतीय विद्वान भारत के बाहर की गतिविधियों से पूरी तरह अपरिचित थे। यद्यपि इस विषय में कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय शोध मेरी जानकारी में नहीं है, फिर भी प्रसन्नन पार्थसारथी की पुस्तक *वाय युरोप ग्रो रिच ऐंड एशियन डिड नाट* से यह पता चलता है कि आरम्भिक आधुनिक दौर में भारतीय विद्वान और शासक शेष विश्व की वैचारिक-वैज्ञानिक उपलब्धियों को जानने और उसे अपने यहाँ लाने के प्रति तत्पर थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उत्तर-दक्षिण भारत की साहित्यिक और वैचारिक संस्कृति में ऐसे ग्रंथों का लेखन शुरू हो जाता है, जिन्हें किसी कृति का भावानुवाद, छायानुवाद या व्याख्यानुवाद कहा जा सकता है। इस दौरान सिर्फ़ धार्मिक और साहित्यिक कृतियों का ही नहीं, बल्कि गणित, आयुर्वेद, आदि के ग्रंथों का भी अनुवाद किया गया। इसके बावजूद यह कहना सम्भवत: अनुचित नहीं होगा कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को भारतीय भाषा में लाने की तत्परता और ज़रूरत बहुत व्यापक स्तर पर दिखाई नहीं पड़ती। सम्भवत: इसके पीछे भारतीय संस्कृति और राजनीतिक तंत्र की भूमिका रही होगी। उल्लेखनीय है कि चीन में बौद्ध धर्म का विस्तार अनुवाद के ज़रिये हुआ था। इसलिए चीनी सभ्यता के विकास में अनुवाद की भूमिका बहुत पहले ही बन गयी थी। सोलहवीं सदी में बड़े पैमाने पर ईसाई मिशनरियों के चीन पहुँचने के बाद 1633 में शंघाई में एक अनुवाद परियोजना को अंजाम दिया गया, जिसके अंतर्गत तीन सौ युरोपीय पुस्तकों का अनुवाद हुआ, जिनमें से एक-



अयप्पा पणिक्कर ने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण चिंतन किया है। उन्होंने अपने लेखों में लिखा है कि मध्यकालीन भारतीय अनुवादक मूल रचना के सच को शब्दश: प्रस्तुत करने की चिंता से ग्रस्त नहीं थे। पूरे मध्यकाल के दौरान समूचे भारतवर्ष में संस्कृत की कालजयी कृतियों, जैसे *महाभारत* और पुराणों को नये ढंग से कहने, ढालने और विखण्डित करने का सिलसिला जस का तस या हूबहू समानार्थक शब्दों द्वारा अनुवाद करने की चिंता किये बिना चलता रहा।

तिहाई अनूदित पुस्तकें विज्ञान से संबंधित थीं। अफ़ीम युद्ध के बाद चीन को यह समझ में आया कि यदि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का अनुवाद न किया गया तो वे पश्चिमी शक्ति का मुक़ाबला नहीं कर पाएँगे। 1862 में पेइचिंग में कॉलेज ऑफ़ लैंग्वेज की स्थापना हुई और 1865 में शंघाई में ट्रांसलेटिंग ब्यूरो की। ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों के अनुवादों के परिणामस्वरूप 1911 में अंतिम सांमती राजवंश के विरुद्ध क्रांति हुई और उसे उखाड़ फेंका गया।

भारत में अनुवाद के इतिहास को भारतीय सभ्यता की गत्यात्मकता समझने के लिए रूपक के तौर पर देखा जाना चाहिए। अरब, युरोप और चीन के विपरीत प्राचीन भारत में आधुनिक अर्थों में, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अनुवाद का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। अधिक से अधिक इस प्रकार के प्रयासों को पुनर्रचना की संज्ञा दी जा सकती है। नयी परिस्थितियों के अनुरूप रचनाकार यहाँ पूर्व-ग्रंथ की कथा परिवर्तित कर देता था। एक प्रकार से पूर्व-ग्रंथ, के. सच्चिदानंदन के शब्दों में, उसके लिए 'टेक ऑफ़' या 'लॉन्चिंग पैड' का काम करता था और उसे अनुवादक नहीं, स्वतंत्र रचनाकार माना जाता था। प्राचीन भारत में जातक कथाओं और गुणाढ्य के *वृहद् कथामंजरी* के अतिरिक्त अनुवाद के कोई अन्य साक्ष्य फिलहाल नहीं मिलते। आरम्भिक आधुनिक काल में अकबर के शासन के दौरान ज़रूर अनुवाद के लिए एक स्वतंत्र विभाग बनाया गया और संस्कृत और अरबी के अनेक ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया। मुग़ल काल के दौरान *रामायण, महाभारत, राजतंरगिणी, लीलावती* और उपनिषदों के अनुवाद फ़ारसी में किये गये। लेकिन इस दौरान भी एक भारतीय भाषा से दूसरी भारतीय भाषाओं में अनुवाद के साक्ष्य नहीं मिलते। पंद्रहवीं सदी के बाद ज़रूर अनुवाद की परम्परा चल पड़ती है, लेकिन उसे भी शाब्दिक अनुवाद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस दौरान किये जाने वाले अनुवादों में भी मूल कृति को संशोधित और परिवर्तित करने का सिलसिला पूरे तौर पर समाप्त नहीं होता। यद्यपि पूर्ववर्ती कथित अनुवादों की तुलना में ये अनुवाद मूल कृति के काफ़ी समीप लगते हैं। *गीता* के सोमनाथ कृत अनुवाद *रासपंचाध्यायी, प्रबोधचंद्रोदय* का अनुवाद *प्रबोधचंद्रोदय* नाटक और *अभिज्ञानशाकुंतलम्* के अनुवादों के तुलनात्मक अध्ययन से ऊपर कही गयी बात की पुष्टि होती है।

स्टुअर्ट ब्लैकबर्न ने लिखा है कि भारतीय विद्वान, लेखक, रचनाकार हमेशा से बहुभाषा-भाषी रहे हैं। लेकिन अट्ठारहवीं सदी से पहले तक दूसरी भाषा में लिखे गये ग्रंथों का वे अनुवाद नहीं करते, बल्कि उसकी मूल संवेदना को अपनी भाषा में 'आत्मसात्' कर लेते हैं। ब्लैकबर्न ने यह बात दक्षिण भारत के संदर्भ में लिखी है, लेकिन यह बात उत्तर भारत के संदर्भ में भी थोड़े बहुत बदलाव के साथ लागू की जा सकती है। ब्लैकबर्न ने लिखा है कि पूर्व-औपनिवेशिक दौर में तमिल और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच शाब्दिक अर्थों में अनुवाद नहीं हुए। इसके बजाय तमिल और संस्कृत के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया को 'आत्मसातीकरण' के ज़रिये समझा जा सकता है। प्रारम्भ में केवल उन्हीं संस्कृत शब्दों को तमिल में लिया गया, जिनका उच्चारण तमिल में आसानी से हो सकता था और जिन्हें तमिल लिपि में लिखना मुश्किल नहीं था। लेकिन पंद्रहवीं सदी के बाद तमिल में संस्कृत शब्दों की खपत, विशेषकर वैष्णव पंथियों के बीच, बढ़ने लगी और संस्कृत शब्दों को लिखने के लिए संकर लिपि का भी विकास किया गया। सूत्र रूप में उपनिवेशवाद से पहले के दौर में भारतीय भाषाओं के बीच अनुवाद का सहारा लिए बिना बड़े पैमाने पर आदान-प्रदान हुआ। लेकिन उपनिवेशवादी दौर में भाषाई अस्मिता की चेतना प्रबल होने के साथ यह सिलसिला उल्टी दिशा में मुड़ गया।

भारत में अनुवाद प्रक्रिया के वैशिष्ट्य और पश्चिम से इसकी भिन्नता पर विचार करते हुए जी.एन. देवी ने लिखा है कि अनुवाद की आधिभौतिक अवस्थिति यह तय करती है कि किसी भी संस्कृति में अनुवाद को किस रूप में लिया जाय। उन्होंने यह भी लिखा है कि पश्चिमी तत्त्वचिंतन में अनुवाद एक निर्वासन है और निर्वासन एक आधिभौतिक अनुवाद— एक उत्तर-बेबेल संकट।

बहुभाषिक, बहुवचनात्मक हिंदू चेतना, जो आत्मा के एक रूप से दूसरे रूप में निरंतर संक्रमण में विश्वास करती है, के लिए अनुवाद की पश्चिमी आधिभौतिकी में विश्वास करना बहुत मुश्किल था। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति में कायांतरण एक बुनियादी सिद्धांत है और इसकी आधिभौतिकी निर्वासन के भय से अभिशप्त नहीं है। उन्होंने आगे लिखा है कि पश्चिमी भाषा-विज्ञान तात्त्विक रूप से एक भाषा पर केंद्रित विज्ञान है, और यह अंतरभाषी पर्याय की सम्भावना का निषेध करता है। यही नहीं, पश्चिमी भाषा-विज्ञान इस बात की भी उपेक्षा करता है कि भाषाएँ सामाजिक और ऐतिहासिक अर्थों में एक दूसरे से प्रभावित होती हैं। लेकिन फिर वे आगे यह जोड़ते हैं कि भारतीय चेतना वास्तव में अनुवादपरक चेतना है, जो भाषा प्रणाली के सम्भावित खुलेपन का इस्तेमाल करती है। उनका निष्कर्ष है कि समूचे भक्ति-आंदोलन की कविता में अध्यात्म की भाषा को संस्कृत से लोकभाषा में अनूदित करने की चेतना व्याप्त थी। इसके बावजूद यह कहना सम्भवत: उचित होगा की जी.एन. देवी भारतीय सभ्यता में अनुवाद के वैशिष्ट्य की बहुत संतोषजनक व्याख्या नहीं करते।

अयप्पा पणिक्कर ने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण चिंतन किया है। उन्होंने अपने लेखों 'एंग्ज़ाइटी ऑफ़ ऑथेंटिसिटी' और 'रिफ़्लेक्शन ऑफ़ लिटरेरी ट्रांसलेशन' (1996) और 'टुवर्ड्स ऐन इण्डियन थियरी ऑफ़ ट्रांसलेशन' (1998) में उन्होंने लिखा है कि मध्यकालीन भारतीय अनुवादक मूल रचना के सच को शब्दश: प्रस्तुत करने की चिंता से ग्रस्त नहीं थे। पूरे मध्यकाल के दौरान समूचे भारतवर्ष में संस्कृत की कालजयी कृतियों, जैसे *महाभारत* और पुराणों को नये ढंग से कहने, ढालने और विखण्डित करने का सिलसिला जस का तस या हूबहू समानार्थक शब्दों द्वारा अनुवाद करने की चिंता किये बिना चलता रहा। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है इस प्रक्रिया को ब्लैकबर्न के शब्दों में 'आत्मसातीकरण' कहना ज़्यादा सही होगा। दूसरी भाषा की रचनाओं के आत्मसातीकरण की प्रक्रिया की संगति भारतीय समाज-व्यवस्था और उसके सांस्कृतिक मूल्यों से ठीक बैठती है। यहाँ 'अन्य' की सामाजिक अस्मिता को पूरी तरह रूपांतरित किये बग़ैर उसे मुख्यधारा में एक नयी जाति के रूप में आत्मसात् कर लिया जाता था। वैसे ही एक भाषा की रचना को अनुवाद के ज़रिये दूसरी भाषा में रूपांतरित करने के बजाय ज़रूरत के अनुसार उसे बदल लिया जाता था। वस्तुत: अनुवाद की परम्परा का विकास उन सभ्यताओं में हुआ जहाँ ऐसे धर्मों का अस्तित्व था, जो धर्मांतरण में विश्वास करते थे।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद के लिए शब्दकोश और व्याकरण ग्रंथों की रचना ज़रूरी है। लेकिन भारत में आधुनिक भारतीय भाषाओं के शब्दकोश और व्याकरण ग्रंथों की रचना पश्चिमी विद्वानों, ईसाई मिशनरियों और अरबी-फ़ारसी के विद्वानों ने की है। भारतीय विद्वानों ने आधुनिक भाषाओं के शब्दकोश और व्याकरण ग्रंथ बनाने की ज़रूरत इसलिए महसूस नहीं की, क्योंकि भारतीय भाषाएँ परस्पर इस क़दर सम्बद्ध थीं कि उन्हें स्वतंत्र और स्वयं-सम्पूर्ण भाषा के रूप में देखा ही नहीं जाता था। इसलिए यहाँ आधुनिक अर्थों में अनुवाद की सार्थकता भी संदिग्ध हो जाती थी। सम्भवत: यही कारण है कि ग़ैर-भारतीय भाषाओं के ग्रंथों को किसी भारतीय भाषा में लाने का कोई गम्भीर और व्यापक अभियान चलाए जाने के प्रमाण नहीं मिलते।

उपनिवेशवाद से पूर्व की भारतीय भाषाओं में होने वाले आदान-प्रदान को खींच-खाँच कर अनुवाद सिद्ध करने की युरोकेंद्रित मानसिकता से बाहर निकलकर ही भारत में विभिन्न भाषाओं के बीच होने वाले वैचारिक आदान-प्रदान की विशिष्ट प्रक्रिया को समझा जा सकता है। अनुवाद की युरोपीय अवधारणा को भारत पर लागू करने के बजाय इस तर्क पर विचार करना चाहिए कि प्रख्यात जर्मन चिंतक वाल्टर बेन्यामिन हूबहू अनुवाद की अवधारणा को सही क्यों नहीं मानते थे। उनके अनुसार अनुवाद अंतत: मूल ग्रंथ का पुनर्लेखन या उत्तर-जीवन होता है। अर्थात् हूबहू जस का तस अनुवाद सम्भव ही नहीं। यदि यह बात ठीक है तो फिर भारतीय परम्परा में अपनाई जाने वाली

आत्मसातीकरण की प्रक्रिया को बेन्यामिन द्वारा सुझाई गयी अनुवाद की अवधारणा से ज़्यादा भिन्न नहीं कहा जा सकता। लेकिन अंत में, इस बात पर विचार ज़रूर किया जाना चाहिए कि भारत में भारतीय उपमहाद्वीप से बाहर की भाषाओं के ग्रंथों और उनके विचारों को अपनी मुख्यधारा में आत्मसात् करने के इतने कम साक्ष्य क्यों मिलते हैं?

संदर्भ :

अयप्पा पणिक्कर (1996 क), 'द एंग्जाइटी ऑफ़ ऑथेंटिसिटी: रिफ्लेक्शंस ऑन लिटरेरी ट्रांसलेशन', ए.के. सिंह (सम्पा.), *ट्रांसलेशन: इट्स थियरी ऐंड प्रैक्टिस,* क्रिएटिव बुक्स, नयी दिल्ली.

अयप्पा पणिक्कर (1998), 'टुवर्ड्स एन इण्डियन थियरी ऑफ़ ट्रांसलेशन', टुटुन मुखर्जी (सम्पा.), *ट्रांसलेशन: फ्रॉम पेरीफ़री टू सेंटर स्टेज,* प्रेस्टीज, नयी दिल्ली.

ए.के रामानुजन (2004), द *कलेक्टिड एसेज़ ऑफ़ रामानुजन,* ए.के. धरवाड़कर (सम्पा.), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

के. सच्चिदानंदन (2014), 'डू यू अंडरस्टैंड...' द *हिंदू ,* 2 मार्च.

जी.एन. देवी (1993), *इन अनॉदर टंग,* मैकमिलन, मद्रास.

डेविड शुलमन वगैरह (2001), *टेक्सचर ऑफ़ टाइम,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

दीपेश चक्रवर्ती (2007), *प्रोविंसिएलाइज़िग युरोप : पोस्ट कोलोनियल थॉट ऐंड हिस्टॉरिकल डिफ़रेंस,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.

बर्नार्ड कोह्न (1985), 'कमांड ऑफ़ लैंग्वेज़ ऐंड लैंग्वेज ऑफ़ कमांड' रणजीत गुहा (सम्पा.), *सबाल्टर्न स्टडीज़* IV, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

मिशेल क्रॉनिन (2006), *ट्रांसलेशन ऐंड आइडेंटिटी,* रूटलेज, लंदन.

स्टुअर्ट ब्लेकबर्न (2003), *प्रिंट, फ़ोकलॉर ऐंड नैशनलिज़्म इन कोलोनियल इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

संध्या शर्मा (2011), *लिटरेचर, कल्चर ऐंड हिस्ट्री इन मुग़ल नॉर्थ इण्डिया,* प्राइमस बुक्स, नयी दिल्ली.

शेल्डन पोलॉक (1998), 'इण्डिया इन वर्नाक्युलर मिलेनियम', *डैडलस* 127.3, आद्य आधुनिकताओं पर केंद्रित विशेषांक.

(2001), 'न्यू इंटलेक्चुअल इन सेविंटींथ सेंचुरी इण्डिया', द *इण्डियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री,* अंक 38, खण्ड 1.

(2008), 'टुवर्ड्स अ पॉलिटिकल फ़िलोलॉजी : डी.डी. कोशम्बी ऐंड संस्कृत', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली.*

सुदीप्त कविराज (2010), *इमैजिनरी इंस्टीट्यूशंस ऑफ़ इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.